

घर की ललक

निकोलाई तेलेशोव



घर की ललक



घर की ललक

निकोलाई तेलेशोव



आवरण एवं रेखांकन : रामयाबू



क्षेत्राग ट्रस्ट

समाधिकार सुलक्षित

मूल्य : रु. 20.00

प्रथम संस्करण : 2004

पुनर्मुद्रण : जनवरी 2010

प्रकाशक

अनुराग ट्रस्ट

डी - 68, गिरालाजगर

लखनऊ - 226020

लेआर टाइप टैरिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुस फाउण्डेशन

मुद्रक : बाणी ग्राफिक्स, अलीगंअ, लखनऊ

पुस्तक और इसके लेखक के बारे में

यह अपने आप में एक उल्लेखनीय बात है कि उन्नीसवीं शताब्दी के जिन महान रूसी लेखकों ने अपनी रचनाओं के जरिये अपने देश की आम जनता को अज्ञान और अन्याय-अत्याचार के अँधेरे से बाहर रोशनी की दुनिया में लाने की कोशिश की प्रायः उन सभी ने बच्चों के लिए और बच्चों के बारे में लिखा। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जो महापुरुष अपने देश और समूची मानवता के भविष्य को लेकर चिन्तित थे, वे बच्चों के बारे में भी सोचते क्योंकि भविष्य बच्चों का ही होता है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि उन्नीसवीं शताब्दी के रूसी लेखक जब भी बच्चों के बारे में लिखते हैं तो वे प्रायः सदा ही बच्चों के कष्टों और दुखों की बात करते हैं। यदि उस समय के रूसी समाज को देखें तो यह एकदम स्वाभाविक लगता है। रूस में उन्नीसवीं सदी जनता की कंगाली और कष्टों का युग थी। 1861 तक देश में भूदास प्रथा थी। इस प्रथा के अनुसार किसी ज़मींदार की ज़मीन पर जो भी किसान रहता था, वह उसका दास होता था। ज़मींदार उन्हें खरीद-बेच सकता था और कोड़े मार-मारकर उनकी जान ले लेने पर भी वह किसी सज़ा का हक़दार नहीं होता था। 1861 में भूदास प्रथा की समाप्ति के बाद भी आम लोगों की ज़िन्दगी में कोई बदलाव नहीं आया। ग़रीब पहले की ही तरह भूख, जी तोड़ मेहनत और अमीरों के जुल्म के शिकार थे। बच्चों की दशा तब विशेष रूप से दयनीय थी। अकाल, भुखमरी में मौत और काले पानी की सज़ा के चलते सड़कों पर बेघर, अनाथ बच्चों की भरमार थी। ग़रीब घरों के बच्चे छोटी उम्र से ही दो जून की रोटी कमाने के लिए हाड़तोड़ मेहनत करते थे और बहुधा असमय ही मौत का ग्रास बनते रहते थे। यहाँ तक कि अमीर घरों के बच्चे भी, जिन्हें किसी बात की तंगी न थी, और जिन्हें पढ़ने-लिखने के अवसर प्राप्त थे, वे भी जीवन के सच्चे आनन्द और आज़ादी से वंचित थे। ऐसे समाज में बच्चों के जीवन के दुखों का कहानियों में अधिक स्थान पाना स्वाभाविक ही था।

लेकिन महत्वपूर्ण बात है कि ऐसे अधिकांश लेखकों ने असह्य पीड़ादायी जीवन के अंधकारमय पक्षों के मार्मिक चित्रण के साथ ही उसके उज्ज्वल पक्षों को भी दिखाया है। प्रायः दरिद्रता, अन्याय और दुख के पहाड़ों में से भलाई और सत्य के सोते इन कहानियों में फूटते हुए दीखते हैं। निकोलाई तेलेशोव की प्रस्तुत कहानी 'घर की ललक' भी एक ऐसी ही कहानी है।

निकोलाई तेलेशोव का जन्म 1867 में हुआ था, यानी रूस में भूदास-प्रथा खत्म किये जाने के छः वर्ष बाद, और मृत्यु 1957 में हुई जब समाजवादी क्रान्ति के बाद चालीस वर्षों का समय बीत चुका था। युवावस्था में तेलेशोव ने ज्ञान प्रसार का काम किया। बच्चों के लिए वे कहानियों और कविताओं के संग्रह छापते थे। मास्को के पास ही उन्होंने एक स्कूल भी खोला था। 1894 में उस समय के एक महान मानवतावादी और यथार्थवादी लेखक अन्तोन चेखोव की सलाह पर तेलेशोव ने सुदूर साइबेरिया की यात्रा की, ताकि जनता के

जीवन को अच्छी तरह देख-जान सकें।

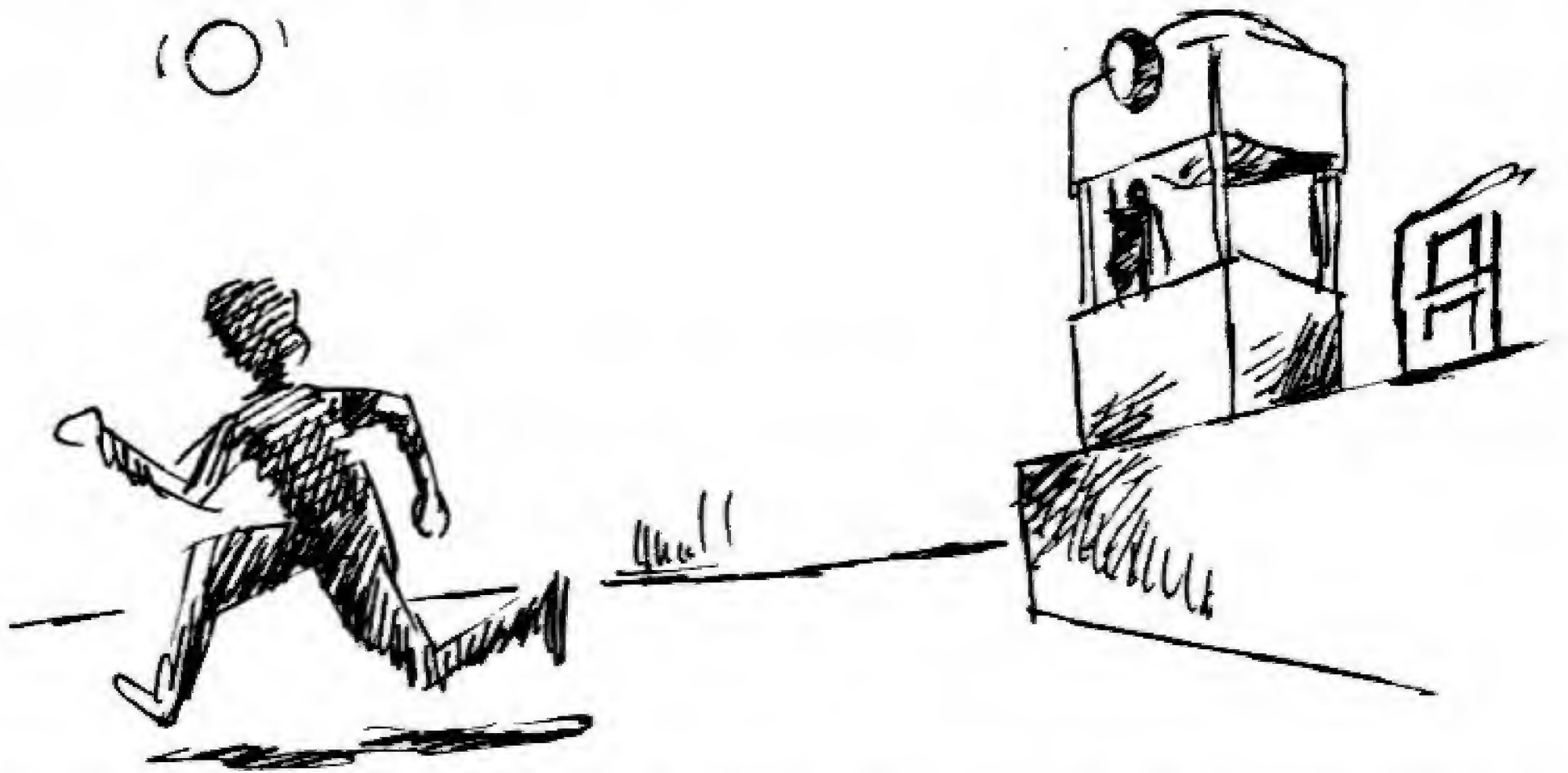
उन दिनों ज़ार की सरकार रूस के यूरोपीय भाग के ग़रीब किसानों को साइबेरिया के निर्जन इलाकों में बसा रही थी। उराल पार के क्षेत्र में रेल लाइनें न के बराबर ही थीं। किसान अपने परिवारों के साथ घोड़ागाड़ियों पर यात्रा करते थे। लंबे रास्ते में वे भूखे रहते थे, रोगों के शिकार होते थे, ठंड से मरते थे, बच्चे अनाथ हो जाते थे, माँ-बाप बच्चों के बिना रह जाते थे। साइबेरिया के केन्द्रीय भाग में तेलेशोव ने ऐसी बहुत सी बैरकें देखीं, जो इन किसानों के बेघरबार हो गये बच्चों से भरी हुई थीं। साइबेरिया से लौटने पर तेलेशोव ने लिखा : “इन बच्चों के माता-पिता या तो रास्ते में मर गये, या फिर बाकी परिवार को कंगाली और भूख से बचाने की कोशिश में अपने बच्चे को, जिसके बचने की उन्हें कोई उम्मीद न थी, छोड़कर आगे बढ़ गये। उनके पास न इतनी शक्ति थी, न इतना पैसा ही कि वे रुककर बच्चे के मर जाने का इंतजार करें और वे उसे मरा हुआ ही मानकर आगे बढ़ जाते हैं। बेशक, इस तरह छोड़े गये अधिकांश बच्चे बीमारी से ठीक नहीं हो पाते, पर ऐसा भी होता है कि बच्चे की हालत सुधर जाती है और फिर वह ‘खुदाई औलाद’ बन जाता है।”

तेलेशोव की सबसे अच्छी कहानियाँ इन अभागे बच्चों के बारे में ही हैं। माँ-बाप बीमार निकोला को छोड़कर चले गये, वह ठीक हो गया और किसी का नहीं रह गया—यह है ‘ग़रीबी’ कहानी का कथानक। ‘नया साल’ कहानी में लेखक इस बात का वर्णन करता है कि किस तरह बूढ़े सिपाही मीत्रिच को इन अभागे बच्चों पर तरस आता है और वह अपना पेट काटकर उनके लिए नये साल पर त्योहार मनाने का प्रबंध करता है।

प्रस्तुत कहानी ‘घर की ललक’ भी एक ऐसी ही कहानी है, 1896 में प्रकाशित यह कहानी एक ऐसे बच्चे की कहानी है जो साइबेरिया जाते हुए अनाथ हो गया था और अब वह वापस घर लौटने की कोशिश कर रहा है। इसी बीच वह गम्भीर रूप से बीमार पड़ जाता है और काले पानी से भागकर आया एक अपराधी बीमार पड़ गये बच्चे को बचाने के लिए शहर ले जाता है और खुद पुलिस के हाथ पड़ जाता है। हम नहीं जानते कि उसने क्या अपराध किया था। लेकिन हम देखते हैं कि वह स्वेच्छा से अपनी आज़ादी, और शायद, अपने जीवन की भी बलि दे देता है ताकि एक अनजान बच्चे को मौत के मुँह से बचा सके। और उसकी यही मानवता, यही कुर्बानी, यही पराक्रम पाठक के हृदय को छू जाता है।

कहानी बच्चों के सामने उस अपराधी के माध्यम से, दूसरों के लिए जीने और मरने वाला एक चरित्र प्रस्तुत करती है। साथ ही, यह प्रकारान्तर से यह भी बताती है कि ग़रीबी और उत्पीड़न की सामाजिक स्थितियाँ प्रायः ऐसे लोगों को भी अपराधी बना देती हैं जो अत्यन्त उच्च मानवीय गुणों से, वीरता और त्याग से ओतप्रोत होते हैं। अपराध के कारण प्रायः सामाजिक परिवेश में निहित होते हैं, इस बात को समझने वाले बच्चे ही कल बड़े होकर ऐसे समाज का निर्माण कर सकते हैं, जो अपराध और अपराधी नहीं, बल्कि उच्च मानवीय मूल्यों और बेहतर मनुष्य पैदा करें।

घर की ललक



गर्मियों की उजली रात थी। चाँदनी में जीवन की उमंग थी और सहज शान्ति : खेतों-मैदानों और सड़कों पर वह चाँदी बरसा रही थी, जंगल को अपनी किरणों से बींध रही थी और नदियों में सोना घोल रही थी... इसी रात को बैरक के दरवाजे में से दस-ग्यारह बरस का, घुँघराले बालों और पीले चेहरे वाला एक लड़का-स्योम्का चुपके-चुपके बाहर निकला। उसने इधर-उधर नज़र दौड़ाई, छाती पर सलीब का निशान बनाया और सहसा सिर पर पैर रखकर उस मैदान की ओर दौड़ा, जहाँ से “रूस की सड़क” शुरू होती थी। लड़के को डर था कि उसका पीछा किया जाएगा, इसलिए वह बार-बार मुड़कर देख रहा था, लेकिन कोई उसके पीछे नहीं दौड़ रहा था। लड़का सही-सलामत पहले मैदान तक और फिर बड़ी सड़क तक पहुँच गया। यहाँ पर वह रुका, थोड़ी देर तक कुछ सोचता रहा और फिर धीरे-धीरे सड़क के किनारे-किनारे चलने लगा।

वह उन बेघरबार बच्चों में से एक था, जो साइबेरिया में बसाए जा रहे किसानों के पीछे अनाथ रह जाते हैं। उसके माँ-बाप रास्ते में टाइफ़ायड से मर गए थे और स्योम्का बेगाने लोगों के बीच अकेला रह गया था। यहाँ की प्रकृति भी उसकी जन्मभूमि

से बिल्कुल अलग थी। उसे याद था कि उसकी जन्मभूमि में पत्थर का सफ़ेद गिरजा है, पवन-चक्कियाँ हैं, उज़्यूप्का नदी है, जहाँ वह अपने दोस्तों के साथ नहाया करता था और बेलये (सफ़ेद) नाम का गाँव है। परंतु यह जन्मभूमि, वह गाँव और नदी कहाँ हैं, यह सब उसके लिए उतना ही बड़ा रहस्य था, जितना कि वह स्थान, जहाँ पर अब वह था। उसे बस एक बात याद थी कि वे यहाँ इस सड़क पर आए थे और इससे पहले उन्होंने एक बहुत बड़ी नदी पार की थी और उससे भी पहले कई दिनों तक स्टीमर पर यात्रा की थी, फिर रेलगाड़ी पर, फिर स्टीमर और रेलगाड़ी पर। उसे लगता था कि वह बस यह सड़क का फासला तय कर ले, फिर नदी आयेगी, उसके बाद रेलगाड़ी होगी और फिर बस उज़्यूपका नदी और बेलये गाँव आ जाएगा और उसका अपना घर, जहाँ वह जन्मा और बड़ा हुआ, जिसके बिना वह नहीं रह सकता, जहाँ वह सभी बूढ़ों और लड़कों को जानता है। उसे यह भी याद था कि कैसे उसके माँ-बाप मरे थे, कैसे लोगों ने उन्हें ताबूत में रखकर पेड़ों के झुरमुट के पीछे किसी अनजान कब्रिस्तान में दफना दिया था। स्योम्का को यह भी याद था कि कैसे वह रोता रहा था और उसे घर भेज देने को कहता रहा था, मगर उसे यहाँ बैरक में रहने पर मजबूर किया गया। यहाँ उसे रोटी और बंदगोभी का सूप 'श्ची' मिलता था और हमेशा कहा जाता था : “जा, जा, तेरे बिना यहाँ क्या कम काम है”। यहाँ तक कि बड़ा साहब अलेक्सान्द्र याकव्स्कीविच, जो सब पर हुक्म चलाता था, उस पर बरस पड़ा था और बोला था—चुपके से रहे जाओ, ज्यादा तंग करोगे तो बाल नोच डालूँगा। और स्योम्का मन मसोसकर वहाँ रह रहा था। उसके साथ बैरक में तीन लड़कियाँ और एक लड़का और थे, जिन्हें उनके माँ-बाप यहाँ भूल गए थे और पता नहीं कहाँ चले गए थे, पर वे बच्चे इतने छोटे थे कि स्योम्का न उनके साथ खेल सकता था न शरारतें कर सकता था।

एक के बाद एक दिन और हफ़्ते गुज़रते रहे और स्योम्का इस धिनौनी बैरक में रहता रहा, कहीं जाने का साहस वह नहीं कर पाता था। पर आख़िर वह तंग आ गया। वह तो रही सड़क, जिस पर वे रूस से यहाँ आए थे। अच्छी तरह से नहीं जाने देते तो ठीक है, वह भाग जाएगा। कौन सी कोई बहुत देर की बात है? और वह फिर से

अपनी नदी उज्ज्यूष्का, अपना गाँव बेलये देखेगा और अपने पक्के यारों से मिलेगा, मास्टरनी अफ्रोसिन्या येगोरव्ना के पास जाएगा और पादरी के लौंडों के पास, जिनके घर पर बहुत सारे चैरी और सेब के पेड़ हैं।

पकड़े जाने का उर स्योम्का को कई दिनों तक रोके रहा, परन्तु अपनी नदी, अपने जन्म के गाँव, अपने हमजोलियों को देखने की आशा इतनी प्रबल थी कि स्योम्का ने मन में यह सपना सँजोकर मौका देखा और सदा के लिए फोकट के खाने को लात मारकर सड़क पर भाग आया। अब वह बहुत खुश था कि घर लौट रहा है। उसे लगता था कि बेलये जैसी अच्छी जगह और कहीं नहीं और सारी दुनिया में उज्ज्यूष्का जैसी कोई नदी नहीं है।

चाँद क्षितिज पर पहुँच रहा था, पौ फट रही थी, पर स्योम्का चलता जा रहा था, ताजी, ओस से भीगी हवा में साँस लेता हुआ और इस बात पर खुश होता हुआ कि हर कदम उसे घर के पास ले जा रहा है।

(2)

लगता है कि इन्सान के लिए जिस किसी बात की भी कल्पना की जा सकती है, वह सब असीम साइबेरिया ने देखा और अनुभव किया है और उसे किसी बात पर आश्चर्य नहीं हो सकता। इसके रास्तों पर बेड़ियों में बंद कैदियों ने हज़ारों मील पार किए हैं—भारी ज़ज़ीरें खनखनाते हुए, इसके गर्भ की अँधेरी खानों में उन्होंने खुदाई की है, इसकी सड़कों पर घुंघरूओं की झंकार के साथ जोड़का गाड़ियाँ हंवा से बातें करती चलती हैं और इसके घने जंगलों में भगोड़े कैदी भटकते-फिरते हैं, जानवरों से जूझते हैं और कभी बस्तियाँ जला डालते हैं, तो कभी ईसा के नाम पर रोटी का टुकड़ा माँगकर पेट भरते हैं;

रूस से यहाँ बसने आनेवालों का ताँता लगा रहता है, उनके क़फ़िले अपनी गाड़ियों तले रात काटते हैं, अलाव के पास बैठकर आग सेंकते हैं, उधर उनके सामने से, उल्टी दिशा में भी झुंड के झुंड कंगाल हो गए, भूखे, नंगे, बीमार लोग बढ़ते जाते

हैं, और न जाने कितने रास्ते में मौत का निवाला बनते हैं, पर यहाँ किसी के लिए कुछ नया नहीं है।

साइबेरिया ने इतना ज्यादा पराया दर्द देखा है कि अब आश्चर्य की कोई बात नहीं रह गई। जब स्योम्का किसी गाँव या बस्ती से गुज़रता हुआ पूछता : “रूस को कौन सी सड़क जाती है?” तो इसपर भी किसी को कोई हैरानी न होती।

“यहाँ सब रास्ते रूस को जाते हैं,” उसे सीधा सा जवाब मिलता और जवाब देनेवाला सड़क की ओर इशारा कर देता, मानो उसकी दिशा दिखा रहा हो।

स्योम्का चलता जा रहा था, वह न थकावट महसूस कर रहा था, न उसके मन में डर था : वह अपनी आज़ादी पर खुश था, रंग-बिरंगे फूलों वाले मैदान और डाक वाली त्रोंइका गाड़ी की घंटियों की टुन-टुन उसके मन में उमंगें भरती थी। कभी-कभी वह घास पर लेट जाता था और जंगली गुलाब की झाड़ी तले गहरी नींद में सो जाता था या जब गर्मी ज्यादा होती तो सड़क किनारे के किसी कुँज में बैठ लेता। उदारमना साइबेरियाई औरतें उसे रोटी और दूध दे देती थी और सड़क पर जाते किसान कभी-कभी उसे अपनी घोड़ागाड़ी पर बिठा लेते थे।

“बाबा, गाड़ी में बिठा लो, दया करो!” पास से कोई घोड़ागाड़ी गुजरती, तो स्योम्का मिन्नत करता।

“माई, रोटी दे दे,” गाँवों में वह औरतों से माँगता था।

सब को उसपर दया आती थी और स्योम्का का पेट भरा रहता था।

(3)

दो हफ़्ते बीत गए।

स्योम्का कई रास्ते और गाँव पीछे छोड़ चुका था। वह हिम्मत नहीं हारा था, आराम से चलता जा रहा था। हाँ, कभी-कभार वह लोगों से पूछ लेता था :

“रूस अभी दूर है?”

“रूस? हाँ पास नहीं है। चलते जाओ, जाड़ों तक पहुँच जाओगे, या शायद कुछ पहले ही।”

“और जाड़ा जल्दी ही आनेवाला है क्या?”

“नहीं, जाड़ा आने में अभी देर है। अभी तो पतझड़ भी नहीं आया।”

स्योम्का जब किसी गाँव से गुजरता, या जब उसे दूर से ही गिरजे का ऊँचा सफेद घंटाघर और उसके ऊपर सुनहरी सलीब दिखाई दे जाता, तो उसकी आँखों में आँसू आ जाते, मन में खुशी उमड़ती। वह टोपी उतार लेता, घुटनों के बल गिर पड़ता और रोते हुए प्रार्थना करता :

“हे, प्रभु, जल्दी से जाड़ा आ जाए!”

कभी-कभी स्योम्का को सड़क के किनारे लकड़ी का सलीब लगा दिखाई देता, आस-पास कोई घर नहीं, कहीं पहरेदार की कोठरी तक नहीं, बस एक ओर जंगल तथा दूसरी ओर स्तेपी ही होती।

ऐसा सलीब देखकर स्योम्का सोच में पड़ जाता, हर बार उसे अपने माँ-बाप की याद आ जाती, खुले मैदान में लगा तम्बू याद हो आता, जिसमें वे मरे थे, और स्योम्का सारी थकावट भूल-भालकर, तेज़ कदम भरने लगता।

“घर! घर!”

लो, आखिर एक शहर आ गया...

चुँगी चौकी से आगे स्योम्का को दाएँ-बाएँ लट्टों के घर दिखाई दे रहे थे। मटमैले घरों की छतें हरी, लाल या सुरमई थीं। आगे पत्थर के सफेद मकान थे। गलियों में मुर्गियाँ घूम रही थीं, सुअर घुरघुरा रहे थे। फिर ऊँची बाड़ों और हरे-भरे आहातों का क्रम चला, डाक-चौकी के पास काली-सफेद धारियों वाले मील-खंभे लगे हुए थे। खुले चौक में लोहे के जंगले के पीछे ऊँचा घंटाघर था और उसके बिल्कुल सामने लट्टों का पतला सा बुर्ज था, उसके ऊपर एक सिपाही चक्कर काट रहा था और आगे फिर शहर की चौकी की बुर्जियाँ दिखाई देने लगी थीं।

स्योम्का बिन रुके ही शहर से होता हुआ निकल गया और फिर से खुली सड़क पर पहुँच गया। यहाँ वह निश्शंक होकर अपनी धुन में मस्त चलता जा सकता था।

ज्यों-ज्यों स्मोम्का दूर जाता जा रहा था, त्यों-त्यों उसे चारों ओर शरद ऋतु के आने की अधिक निशानियाँ दिख रही थीं। “कोई बात नहीं। जल्दी ही जाड़ा आ जाएगा,”—स्योम्का के मन में आता और उसे लगता कि बस उसका गाँव अब पास ही आता जा रहा है। खेतों में रंग-बिरंगी तितलियाँ नहीं फड़फड़ा रही थीं, टिड्डे नहीं फुदक रहे थे, पेड़ों के पत्तियाँ झड़ने लगी थीं, घास मुरझाने लगी थी, आसमान पर अक्सर झीने-झीने सुरमई बादल छा जाते थे और रातें भी ठंडी हो गई थीं।

पर स्योम्का सोचता था : “अब तो थोड़ी ही दूर हैं। बस अब जल्दी ही घर पहुँच जाऊँगा।” स्योम्का सड़क पर चलता जा रहा था। भूख उसे सता रही थी। सुबह से उसने कुछ नहीं खाया था।

झाड़ियों में एक आदमी पालथी मारकर बैठा कुछ चबा रहा था। उसे देखकर स्योम्का थम गया। वह ईर्ष्या भरी नज़रों से यह देख रहा था कि कैसे वह आदमी अंडा छीलकर दाँतों से काट रहा था और ऊपर से रोटी खा रहा था।

“क्या चाहिए तुझे?” उस आदमी ने पूछा। वह न उठा और न उसने चबाना ही बंद किया।

स्योम्का चुपचाप खड़ा था।

वह आदमी जवान न था। चेहरे पर छोटी सी खिचड़ी दाढ़ी थी, आँखें संकरी और घँसी हुई, मुँह की चमड़ी साँवली पड़ गई थी और खुश्क हवाओं से फट गई थी। पैरों में वह नमदे के जूते पहने हुए था, कंधे पर भड़कीले रंग का कोट और सिर पर टोप।

“क्या चाहिए तुझे?” स्योम्का की ओर गौर से देखते हुए उसने फिर से पूछा।

“बाबा,” स्योम्का डरते-डरते बोला, “ईसा के नाम पर थोड़ी सी रोटी दे दो..”

“अरे भैया, यहाँ तो खुद भले लोगों से माँगी है... पर ख़ैर ले, बाँट लेते हैं।” उसने रोटी का टुकड़ा बढ़ा दिया और फिर पूछा : “किसका है तू? कहाँ से आ टपका?”

“घर जा रहा हूँ... रूस में।”

“रूस? मैं भी रूस जा रहा हूँ। तू काहे जा रहा है?”

स्योम्का उसे अपनी सारी कहानी सुनाने लगा। वह बता रहा था कि उसे बैरक में कितनी ऊब होती थी, कैसे उसका मन घर जाने को होता था और कैसे वह रात को भागा। बूढ़ा उसकी बातें सुनता जा रहा था और यों सिर हिला रहा था, मानो किसी बात पर उसकी प्रशंसा कर रहा हो।

“शाबाश, बेटे!” स्योम्का का हाथ थपथपाते हुए बूढ़े ने कहा। “पर ज़िंदगी तेरी ख़राब ही होगी। लगता है मेरे ही क़दमों पर चलेगा : न तुझे घर देखने को मिलेगा, न तेरा कोई ठौर-ठिकाना होगा... कुत्तों की सी ज़िंदगी... बिल्कुल कुत्तों की ही!”

“बाबा, तुम कौन हो?” स्योम्का ने बड़ी दिलचस्पी से पूछा और बूढ़े के सामने बैठ गया।

“मैं कौन हूँ? कुछ भी नहीं... बस, यों ही ...एक अनजान बुढ़ा।”

बूढ़े ने गहरी साँस ली और मुँह पर हाथ फेरा, मानो चेहरा पोंछ रहा हो।

“हाँ, भैया... है तो तू छोटा सा ही, पर देख तुझे घर की ललक वापस खींच रही है। बस, सदा यही होता है, घर न हुआ, सगी माँ हुई... ऐसी ललक है, खींचे जाती है, खींचे जाती है... इसके बिना कहीं चैन नहीं। एक बार जाके उसे नज़र भर देख लिया, बस मन को राहत मिल गई।”

“अच्छा तो, बाबा, मैं जाड़ों तक पहुँच जाऊँगा रूस कि नहीं?”

“नहीं, नहीं पहुँच पाएगा। क्योंकि अभी ठंड पड़ने लगेगी और तेरे बदन पर कोई गरम कपड़ा तक नहीं। मैं तो गया हूँ, पता है मुझे। बस कह दिया न नहीं पहुँचेगा, ठंड से अकड़ जाएगा।”

उसकी ये बातें सुनकर स्योम्का के कलेजे पर साँप लोटने लगे। बूढ़ा भी सोच में डूब गया। दोनों सिर झुकाए चुप बैठे रहे।

स्योम्का को अब यह ख़्याल आ रहा था कि कैसे वह ठंड से अकड़ जाएगा। और यह सोचकर उसे दुख हो रहा था कि बेलये में किसी को इसका पता भी नहीं चलेगा। बूढ़ा अपनी सोच रहा था और चुपचाप मूँछें हिलाए जा रहा था।

“तो फिर किधर चला तू?” सहसा अनजान बाबा ने पूछा और उठ खड़ा हुआ।

“मैं तो, बाबा, घर को जा रहा हूँ...”

“मैं भी घर चल रहा हूँ। चल, इकट्ठे चलते हैं।”

दोनों चुपचाप सड़क पर पहुँचे और पाँव घसीटते आगे बढ़ चले।

(5)

साँझ ढल आई थी। दोपहर से बरसते पानी से स्योम्का और बूढ़ा तरबतर हो गए थे।

“चल, भैया मेरे, चल,” बूढ़ा उसकी हिम्मत बढ़ा रहा था। “तेज़-तेज़ कदम बढ़ा। नहीं तो यह शरद सचमुच ही आ धमकेगा और हम अभी पहाड़ों* तक भी नहीं पहुँचे। तब हम क्या करेंगे? तब तो बस अपना काम तमाम हो जाएगा।”

“चल रहा हूँ, बाबा।”

“वैसे ही हमें देर हो गई है। मुझे डर है कहीं पाला** न पड़ने लगे। तब तो बहुत बुरी होगी।”

थकावट के बावजूद स्योम्का भला-चंगा था। हमराही मिल जाने पर वह खुश था और इससे उसका साहस भी बढ़ा था। अब वह निश्चिंत था कि भटकेगा नहीं, कि बाबा उसे ठिकाने तक पहुँचा देगा; और फिर बातें करना भी अच्छा लगता था। बूढ़ा उसे अपने जन्मस्थान की और साइबेरिया की बातें बताता रहता था, कि कैसे साइबेरिया में सोना खोदा जाता है, कैसा भयानक जाड़ा वहाँ होता है। बूढ़ा स्योम्का को साइबेरिया की जेलों की और आज़ादी की कहानियाँ सुनाता, बताता कि वसंत में जब हरी-हरी घास निकलती है, तो कैसे आदमी घर जाने को तड़प उठता है, रात-दिन उसे चैन नहीं मिलता।

“बाबा, हमने काफी रास्ता पार कर लिया, क्या?” स्योम्का उससे पूछता।

* आशय उराल पर्वतमाला से है। -सं०

** यहाँ पाला शब्द तापमान शून्य से नीचे चले जाने के अर्थ में प्रयुक्त है। -सं०

“देख रहा है, यहाँ खाने-वाने को कम मिलता है, मतलब रूस के पास पहुँच रहे हैं। जब पहाड़ पार कर लेंगे, तो वहाँ और भी कम मिलेगा, इसीलिए तो कहता हूँ जल्दी कर! रूस में लोग पैसे के भूखे हैं और तेरी-मेरी जेब खाली है : सो बस, जहाँ मन आए, सोओ, जो चाहों खाओ। साइबेरिया में तो भाई मेरे, लोग भले हैं। पर उनकी भलाई भी हमारे गले में अटकती है। चल, बेटा जल्दी चल!”

सड़क के एक ओर गाड़ियाँ रुकी हुई थीं। चारों ओर अँधेरा था और ठंड थी। गाड़ियों के पास जल रहे अलावों की आग पथिकों को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी। गाड़ी से खोल दिए गए घोड़े अँधेरे में मैदान में भटक रहे थे, शरद ऋतु की मुरझाई घास नोच रहे थे। गाड़ियों के बम ऊँचे उठे हुए थे किसान आग जलाकर हाथ सेंक रहे थे और खाना बना रहे थे।

“भगवान तुम्हें खूब रोटी-नमक दे!” अलाव के पास जाते हुए बूढ़े ने कहा। “ज़रा आग सेक लेने दो, भाइयो!”

“बैठ जाओ,” उदासीन स्वरों में जवाब मिला।

बूढ़े ने बैठकर हाथ आग की ओर बढ़ा दिए। स्योम्का भी पास आ गया। उसके गीले कपड़े जल्दी ही गर्म हो गए और पीठ पर मीठी सिरहन दौड़ गई।

“कहाँ से आ रहे हो?” वहाँ बैठे लोगों में से एक ने अनजान बाबा के चेहरे को गौर से देखते हुए पूछा।

“बड़ी दूर से आ रहे हैं। घर जा रहे हैं।”

“छोकरा तुम्हारा है क्या?”

“नहीं, रास्ते में मिल गया। साइबेरिया बसने जा रहे थे इसके माँ-बाप। अनाथ रह गया है।”

“देखो तो बेचारा कैसे भीग गया है!”

स्योम्का की ओर सबका ध्यान गया। वह आग के बिल्कुल पास ही बैठा था और ठंड से सिकुड़ते हुए देख रहा था कि कैसे अलाव में लकड़ियाँ जलते हुए ऐंठ रही हैं, कैसे हवा में सफ़ेद धुआँ उठ रहा है और कैसे पत्तीले में पकते खाने में झाग उठ रही है, सूँ-सूँ हो रही है।

“अच्छा तो अनाथ है?” किसानों ने पूछा और फिर से स्योम्का की ओर देखने लगे।

फिर वे फसल की, अपने काम की बातें करने लगे; जब खाना तैयार हो गया, तो खाने लगे।

“खा ले, बच्चे, खा ले,” स्योम्का को खाना देते हुए वे कह रहे थे। “देखो तो, कैसे ठंड से ठिठुर रहा है।”

स्योम्का ने भर पेट खाना खाया और आराम करने को लेट गया। गरम खाने के बाद आग के पास लेटना बड़ा अच्छा लग रहा था। लकड़ियाँ चटख रही थी, धुएँ की और ताज़ी छाल की गंध आ रही थी—बिल्कुल वैसे ही, जैसे उसके गाँव बेलये में हुआ करता था। हाँ, अगर वह घर पर होता तो कुछ आलू खोद लाता और उन्हें आग में डाल देता, स्योम्का को भूने हुए आलू याद हो आए, जिनकी भीनी-भीनी महक आती है और जिनसे हाथ जलते हैं और जो दाँतों तले खस-खस करते हैं।

स्योम्का के सिर के ऊपर तारे चमक रहे थे। बेलये के आसमान में भी इतने सारे तारे होते थे और इतने साफ़ चमकते थे। स्योम्का का मन कहता था, हाय बेलये कहीं पास ही हो। टाँगें थकावट से दुख रह थीं, पीठ व बगल को ज़मीन से ठंडक पहुँच रही थी और चेहरे, छाती व घुटनों को आँच की सुहानी गर्मी मिल रही थी।

किसान अभी भी कुछ बातें कर रहे थे और बाबा भी उनके साथ बातें कर रहा था। स्योम्का को उसकी आवाज़ सुनाई दे रही थी: “बड़ा मुश्किल है जीना, भाइयो, बड़ा मुश्किल है...” किसान भी कह रहे थे कि बड़ा मुश्किल है। फिर उनकी आवाज़ें दबी-दबी सी और धीमी हो गईं, मानो मधुमक्खियाँ भिनभिना रही हों... फिर स्योम्का की आँखों के सामने लाल घेरे बनने लगे, फिर चौड़ी नदी बहने लगी और उसके पार था बेलये गाँव। स्योम्का नदी में कूदना चाहता था, पर अनजान बाबा ने उसकी टाँग पकड़ ली और कहा : “मुश्किल है! मुश्किल है!” इसके बाद फिर लाल और हरे घेरे बनने लगे, और सब कुछ गडमड हो गया।

स्योम्का सुध-बुध खोए सो रहा था।

प्रभात वेला में स्योम्का की आँख खुली। आकाश पर बादल तैर रहे थे, बुझे अलाव पर ठंडी हवा के झोंके आते, राख उठाते और सायँ-सायँ करते हुए उसे मैदान में फैला देते। किसान वहाँ नहीं थे। अनजान बाबा गठरी बना ज़मीन पर पड़ा हुआ था।

स्योम्का उठकर बैठ गया।

“बाबा!” उसने बूढ़े को आवाज़ दी।

“किसान कहाँ गए?” उसके दिमाग में यह सवाल कौंधा और सहसा यह सोचकर वह भयभीत हो गया कि बाबा को कुछ हो तो नहीं गया।

सायँ-सायँ करती हवा राख उड़ा रही थी; काले, अधजले कुंदों पर जली टहनियों की सरसर हो रही थी और लगता था मानो सारा मैदान कराह रहा है। स्योम्का का डर बढ़ता जा रहा था।

“बाबा!” वह फिर चिल्लाया, पर उसकी आवाज़ को हवा दूसरी ओर ले गई!

स्योम्का की आँखें मुँद रही थीं, सिर भारी हो गया था और कंधें पर लुढ़क-लुढ़क जाता था। स्योम्का फिर से लेट गया, चारों ओर से उसके कानों में हवा की गूँज आ रही थी। उसे लग रहा था कि डाकुओं ने बाबा को मार डाला है, फिर से कहीं पास ही बेलये गाँव दिखा, पर कोई उसे गाँव में घुसने से रोक रहा था, उसे पीछे खींच रहा था, वहाँ खुले मैदान में, जहाँ गंदी मटमैली बैरक थी। “अच्छा, तू घर जाएगा?” गुस्से भरी आवाज़ में कोई कह रहा था। फिर कोई गर्म-गर्म श्ची लाया और ज़बरदस्ती स्योम्का के मुँह में डालने लगा, सिर पर उड़ेलने लगा, वह उड़ेलता ही जा रहा था, उड़ेलता ही जा रहा था... स्योम्का के सिर पर गर्म पहाड़ बन गया, पर वह उड़ेलता ही जा रहा था... सिर फूल गया, अंदर आग जल रही थी। स्योम्का की साँस रुक रही थी—फिर उसने आँखें खोलीं। बाबा उसके ऊपर झुका बैठा था और दुख से सिर हिला रहा था।

थोड़ी देर में स्योम्का को अजीब सी दबी-दबी आवाज़ें सुनाई दीं। फिर कंधों पर बंदूकें डाले सिपाही दिखे और पीछे मटमैले चोगे और गोल टोपियाँ पहने लोगो की भीड़। उनके हाथों और पैरों पर बेड़ियाँ खनक रही थीं। भीड़ के दोनों ओर तथा पीछे भी सिपाही चल रहे थे; सब ठंड से ठिठुर रहे थे।

स्योम्का का कलेजा थम गया, वह शीशे से चिपक गया और आँखें फाड़-फाड़कर इस भीड़ को देखने लगा कि कहीं वह जाना पहचाना चेहरा नज़र आ जाए। सहसा वह बेतहाशा चीखा और शीशे पर मुठियाँ मारने लगा :

“बाबा! बाबा! बाबा!”

कैदियों में उसे अनजान बाबा दिखाई दे गया था, जो बेड़ियों में उलझता हुआ खिड़की के पास से ही गुज़र रहा था।

“बाबा! बाबा!” स्योम्का चिल्ला रहा था। खुशी और भय से वह बदहवास हो गया था।

दस्तक सुनकर कड़्यों ने मुड़कर देखा। अनजान बाबा ने भी सिर घुमाया। स्योम्का ने देखा कि बाबा ने अपनी धँसी हुई बदरंग आँखों से उसे देखा है, उसने देखा कि बाबा ने गहरी साँस भरी और सिर हिलाया।

स्योम्का के आँसू फूट पड़े, छाती में दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। इस बीच कैदी और कौनवाय के सिपाही आगे बढ़ गए थे और भीड़ के पीछे छिप गये थे। स्योम्का अभी भी मुक्के मारता जा रहा था चिल्ला रहा था : “बाबा, बाबा!” सिपाही उदासीन स्वर में कह रहा था :

“अबे, रोता क्यों है? काहे का रोना है : तुझे जल्दी ही तेरे घर पहुँचा देंगे। बच्चा है तू, सो तेरा यहाँ कोई काम नहीं। कह दिया न, लौटा देंगे, अब चिल्ला मत!”

पर स्योम्का फूट-फूटकर रो रहा था और उधर मोड़ की पीछे देखने का जतन कर रहा था, जहाँ संयोगवश ही उसे मिल गया उसका सच्चा, अनजान मित्र अपनी बेड़ियाँ घसीटता चला गया था।



निकोलाई तेलेशोव

1867-1957



कनुराग ट्रस्ट